TEXT PROBLEM WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182455

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY
Call No. H81.6/P22M Accession No. G.H.1238
Author परमेश्वर, 'द्विरफ'।
Title मरु के दीप। 1952
This book should be returned on or before the date last marked below.

मरु के टीले

(काव्य)

परमेश्वर 'द्विरेफ'

प्रथम संस्करण

सन् १९५२

मूल्य एक रुपया

पुस्तक मिलने का पता–

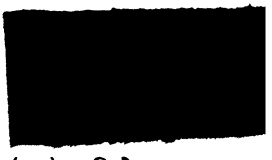

(२) द्विरेफ-भवन
चिड़ावा (राजस्थान)

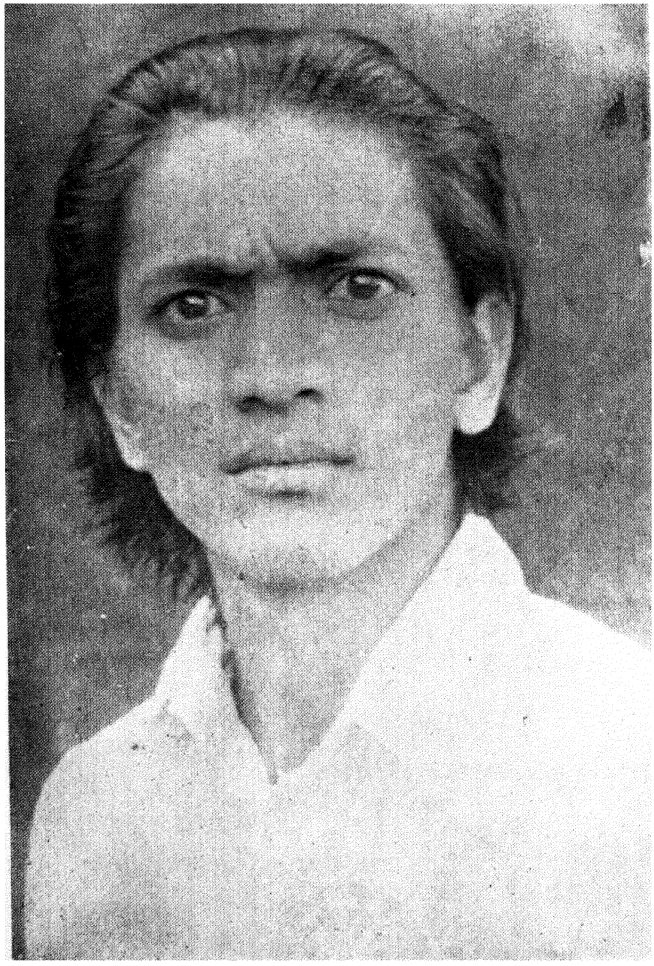

.श्रीपरमेश्वर 'द्विरेफ'

समर्पण

पूज्य पिता, स्वर्गीय पिता हे !
नव विहान में अस्त होगये
कुल-नीरज-कुल के सविता हे !
छोड़ गये थे दो नव अंकुर
मा रोई, सौभाग्य लुटा था
स्वप्न सुनहले हुए अधूरे
भौतिक जीवन-साथ छुटा था

पल पल क्षण क्षण कर बीते दिन
मास, वर्ष, युग, कथा पुरानी
चलते चलते दूर आगये
आज बहुत हम तीनों प्राणी
एक और साथी चलता अब
जीवन पथ पर साथ हमारे
एक बालिका और स्तनधय
चलते हैं—नीरस से, हारे
किन्तु न जाने कहा आज तुम ?
स्मृतियों का ससार बस गया
पीछे के अविरल चिंतन से
नवजीवन का सूख रस गया

पूर्व-चिन्तना गीत बन गई
उरमें सतत व्यथा-गुंजन से
जहा कहीं भी हो, हे बापू !
अँगीकार करो शिव मन से
निज सुत की नीरस कवितायें
पूज्य पिता, स्वर्गीय पिता हे !

भूमिका

जो केवल बसन्तकालीन सुषमा, शारदीय ज्योत्स्ना, झर झर करते हुए जलप्रपात, नभ में गुरु गभीर गर्जन करने वाले मेघों में ही प्राकृतिक सौन्दर्य का दर्शन करते हैं "उनकी दृष्टि एकांगी है" ऐसा कहने में किसी प्रकार की अतिरंजना नहीं है। जो कवि प्रकृति के विराट् सौन्दर्य का दर्शन करते हैं उनको प्रचन्ड झंझावात, सांय सांय करता हुआ निर्जन अरण्य और मरुस्थल के टीलों में भी एक अलौकिक सौन्दर्य दिखलाई पड़ता है, जिसको सफल अभिव्यक्ति वे अपनी अनुभूति के बल पर कर जाते हैं। "मरु के टीले" में हिन्दी के उदीयमान कवि श्री "ढिरेफ जी" ने प्रकृति वर्णन के सम्बन्ध में उसी विराट् दृष्टिकोण का परिचय दिया है। सहज ही यह प्रश्न उठता है "इन पर कोई कैसे गाये ? टीलों के पास न वैभव है, न भविष्य के कोई स्वर्णिम स्वप्न ही। ससार तो मकरन्द-चयन में मस्त रहता है—माणिक मदिरा से जिनकी दो सुनहली घडियाँ खाली नहीं, वे भला दूसरों की दुख की घडियों को क्यों सुनने लगे ? लेकिन कवि का मन टीलों में उलझा हुआ है—कोई किसी के बाल-जाल में अपने वृगों को उलझाते हैं—कोई एकात में बैठी हुई प्रकृति की मोहक छवि को एक टक दृष्टि से देखते हैं, किन्तु कवि स्वय टीलों के देश का वासी है, टीले उसे आत्मीय से लगते हैं। कवि के शैशव के चरणों ने टीलों पर अनेक निरंतर नृत्य किया है—टीले उसे अत्यन्त प्रिय लगे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? टीलों पर पैर पसारे कवि ने सूर्य को छिपते, उगते और किरणें बिखराते तथा समेटते देखा है—वह इन टीलों को भला कैसे भूल

जाये ? कवि की दृष्टि में संसार टीलों को नहीं समझ पाया किन्तु टीले संसार को समझ गये हैं। बिना अनुभूति के सच्ची कविता की अभिव्यक्ति संभव नहीं। "मरु के टीले" कवि की अनुभूति की प्रबल अभिव्यक्ति है। श्री द्विरेफ जी को टीले कुछ खोजते से जान पड़ते हैं—यह समझ नहीं पड़ता कि इनको कौन सजाने आता है ? ऐसा भी लगता है जैसे किसी की आगमन-प्रतीक्षा में टीले निश्चल मौन बने बैठे हैं।

आगमन प्रतीक्षा में जिसकी
ये मौन बने बैठे निश्चल
मैं उसको ढूँढ़ रहा प्रतिपल

स्थान स्थान पर इस प्रकार छायावादी कवियों की सी काव्योचित रहस्य भावना प्रस्तुत गीतों में दिखलाई पड़ती है, जो केवल कल्पना का स्वच्छन्द उन्मुक्त विलास मात्र नहीं—वह अनुभूति का अंग बनकर आई है—इसलिये उसमें प्रभविष्णुता का स्वर है। टीलों के अंतरतल का भी कवि ने अनुभव किया है—कवि क्योंकि स्वयं चेतना-सम्पन्न प्राणी है इसलिये उसे इन टीलों में भी उसकी भावना के अनुरूप वर्णिम इच्छाओं का अविराम नर्तन दिखलाई पड़ता है। श्री द्विरेफजी ने टीलों को निश्वासों की पीड़ा से नीरव देखा है। टीलों के मुख से उन्होंने कहलवाया है कि वनोपवन और नभ—प्रांगण में सर्वत्र कल रव सुनाई पड़ता है। किन्तु हम अब भी अपनी असफलताओं की धूल उड़ाते हैं। टीलों को उन्नत और जर्जर ही कवि ने विशेष रूप से देखा है, वे भला मुस्काना क्या जाने ? ऐसा लगता है जैसे कवि का व्यक्तिगत निराशावादी स्वर टीलों पर भी आरोपित कर दिया गया है, किन्तु कवि अपनी स्वाभाविक निराशा को टीलों में भी छिपा नहीं सकता "मरु भू के मौन तपस्वी हैं ये टीले, व्यथित प्रकृति के ललित संत हैं ये" इनकी सी महामहनीयता और गरिमा भला अन्यत्र कहाँ मिलेगी ? पर वेदना और निराशा का स्वर कवि का पीछा नहीं छोड़ता····· ···

ये ऊपर से चितचोर कान्त
पर भीतर हाहाकार रुदन
वह क्या जाने जिसने केवल
देखी ऊपर की ही झाँकी
युग युग से टीले एकाकी

पर इस अभिव्यक्ति में कृत्रिमता नहीं, यह निश्छल सरल अभिव्यक्ति है, जिसे दुख की कसक ने और भी मधुरतर बना दिया है— और फिर इनके अविराम श्रम को तो देखिये —

हो निशीथ चाहे दोपहरी
रुक न यहाँ पर श्रम-लहरी
थिरक थिरक प्रतिपल अनंत का
ध्यान सतत धरते रहते हैं
टीले श्रम करते रहते हैं

निरन्तर श्रम और तिस पर भी उन्मन और जर्जर टीले आज की विषम आर्थिक व्यवस्था पर कुछ रोष से संकेत करते जान पड़ते हैं, कवि इन टीलों से इस प्रकार आत्मीयता प्रकट करता है। मानो वे उसके बन्धु अथवा मित्र हों-तभी वह कहता है:—

आओ इनका मन बहलायें

सच कहा जाय तो काव्य का कोई विषय नहीं होता—जिस आलम्बन को लेकर कवि की कल्पना रमणीय रूप धारण कर लेती है और अपनी अनुभूति को प्रेषणीय बना पाती है वह कल्पना निश्चय ही सफल है हिन्दी के किसी कवि ने संभवतः अपनी प्रेयसी को लक्ष्य में रख कर कहा है—

इन गीतों के लिए तुम्हारा
ऋणी रहूँगा मैं आजीवन

श्री द्विरेफ जी को टीलों ने गीत दिये, यदि कवि को अपने खोये गान इनमें मिल गये, यदि शान्ति-सांत्वना कवि को इन टीलों मे मिली, तो वह इन टीलो का ऋणी क्यों न होगा ?

हिन्दी में अनेक प्रकार का प्रकृति-वर्णन आज दिखलाई पड़ता है किन्तु श्री द्विरेफजी ने टीलो को लेकर जैसा प्रकृति-वर्णन उपस्थित किया है, वह नितान्त विरल है, इसमे कोई सन्देह नही।

कवि की अनुभूतिमयी आँखों से देखने पर ये टीले किसे प्रिय न लगेंगे ? इस प्रकार के व्यापक दृष्टिकोण को लेकर जो प्रकृति-वर्णन इन गीतों में किया गया है उससे हिन्दी संसार इन गीतों की ओर आकृष्ट होगा, ऐसी आशा है।

आषाढ़ पूर्णिमा
सं० २००६
पिलानी

प्रो० कन्हैयालाल सहल एम ए.
अध्यक्ष—
हिन्दी - संस्कृत - विभाग,
बिरला कॉलेज।

★ व्यक्तिगत ★

'मरु के टीले' पहले बनी, पर प्रकाशित हुई पहले 'कमला नेहरू' अपने विषय में लिखना उचित नहीं, पर यह सच है, कि 'कमला नेहरू' ही मेरे साहित्यारोहण का प्रथम सोपान है, जिस पर मैं भली भाँति खड़ा हो सका हूँ। 'कमला नेहरू' के प्रकाशन ने मेरी-प्रगति में उत्साह भरा है। उससे भी अधिक उत्साह के साथ मैं अब दूसरे सोपान पर चढ़ने जा रहा हूँ-वहाँ पर पाठक मुझे अच्छी तरह से देख सकेंगे उन्हें उचक उचक कर देखने की इतनी आवश्यकता नहीं पड़ेगी, ऐसा मेरा विश्वास है। 'मरु के टीले' कई बार प्रेस में जाते जाते रह गई-इस से मुझे खिन्नता हुई, पर यह मेरे लिये अच्छा ही हुआ-अवकाश मिलने के कारण प्रकाश डाल सका।

सहृदय कलाकार श्री भूरसिंह जी शेखावत ने अब की बार भी आवरण-चित्र बना कर मुझ पर अधिक भार डाल दिया है। पूज्य पंडित बिहारी लाल जी अड़ावतिया, श्री मातादीन भगेरिया, तिवाड़ी-बन्धु, श्री कृष्ण शर्मा, भी निकट के शुभचिंतकों में हैं, इनके विषय में क्या लिखूँ, नहीं सोच सका हूँ। बाल्य-मित्र शंकर, साँवर फतेहपुरिया, पूर्णचन्द्र केडिया, रामकृष्ण मिश्र, और अनन्य प्रेमी शिवचरण, रामरिख, किसन लाल सहल, मोती मिश्र, आदि भी मेरी स्मृति में हैं चिड़ावा के कवि-बन्धु सर्व श्री 'मनहर,' "विनोदी," 'जोशी', 'सुमन', 'राधाशरण', "नट नागर" आदि का स्नेह मुझे मिलता रहता है। साथ ही नवजात कवि 'शंकर पारीक', 'रावेश 'नाग-राज, आनंद, दाधीच, 'विहग', की भी समवेदना का मैं मूल्य समझता हूँ। श्री ब्रह्मदत्तजी सहल, मास्टर श्री बद्रीप्रसादजी की सहानुभूति शायद ही भूल सकूँ। भूले हुए साथियों में 'कवि चंचल' का नाम उल्लेखनीय है। श्री परमानंद मिश्र, से 'अपना दृष्टि कोण' के प्रतिलिपि करण में मुझे सहायता मिली है। मेरे अनुज भवानी शंकर ढानीवाला की प्रेरणा पर्याप्त रही है आदरणीय 'केला जी', 'सहल जी', सत्येन्द्र जी, ने भी अपना अमूल्य समय निकाला है। "मीरां" (महाकाव्य) भी पूर्ण हो चुका है-अतः समयाभाव के कारण ज्ञात और अज्ञात स्नेहियों के सस्मरण के साथ साथ इसे समाप्त कर रहा हूँ।

द्विरेफ-भवन, चिड़ावा (राजस्थान) —परमेश्वर 'द्विरेफ'

"अपना दृष्टिकोण"

आदिम कविता का उद्गम कब हुआ ? यह बताना चाहे मेरे लिये कठिन हो, पर मेरी कविता का श्रीगणेश तो बालुका के टीलों में ही हुआ है, यह मैं अच्छी तरह जानता हूँ—और यह भी याद है कि मेरे अतस्तल में एक अस्पष्ट गुंजन अज्ञात काल से हो रहा था। टीलों की कान्त धूलि पर मेरी आदिम कविता "करता बहता निर्झर झर झर" अनायास ही अपनी अंगुलियों से कैसे लिख गया, यह मैं अभी तक भी नहीं जान पाया। सच तो यह है कि निर्झर के सहवास की प्राकृतिक समवेदना न होने के कारण उस मेरे काल्पनिक निर्झर को हृदय के कण कण में और नयनों के क्षण क्षण में बिखरे हुए पिपासित टीले एक घूँट में ही पी गये। क्षितिज पार कर अनंत, विराट् तथा असीम बालुका पर लेटे लेटे मैंने अपने को जल-प्लावन में "वटस्य पत्रस्यपुटे शयानं बालं मुकुंद" की भाँति जाना। इसके पहले ही कृत्रिम भावना और कोरी कल्पना झर झर करते काल्पनिक निर्झर के साथ ही टीलों के निगूढ़ प्राणों में समा चुकी थी, जो समय पा कर बालुकामयी होकर टीलों के अतराल से स्वतः ही गायन बन कर फूट पड़ी। मैं उन्हें ध्यानमग्न और भाव-विभोर होकर चुनने लगा, किन्तु आँख उठा कर देखा तो चारों ओर दूर दूर तक वन-उपवन की सघन वृक्षावलियों में खग-कूजन और लता-कुंजों में भ्रमर गुंजन ही सुनाई दिया। कलरव के प्रचण्ड कोलाहल से मेरे कर्णों के कुहर फटने लगे। मैंने वहाँ के मकरंद और पराग से अपने नयन घुमा लिये और एकान्त साधक की तरह

बालुका-राशि के अनंत चिरंतन सौन्दर्य को बारंबार निहारने लगा। मरुधरा को अनंत, व्यापक और विराट् बालुका-राशि को सुनसान, उपेक्षित और तिरस्कृत देख कर मेरी दशा ऐसी हो गई जैसे क्षत-विक्षत जटायु के आहत शरीर को देख कर राम की-विरह से व्याकुल राम की भाँति मैंने करुणा के आवेग मे दौड कर बालुका के जटायु को अपने अंक में भर लिया और उसकी हीन दशा पर फूट फूट कर रोने लगा। बालुका के उत्तुंग टीलों से नीचे उतर कर मैं आदिकाल पर विहंगम दृष्टि डालता हुआ आगे बढ़ा पर वहाँ रक्त मांस में सनी हुई और घोटकों के टापों से तितर-बितर प्रकृति कराहती हुई दिखाई दी, लाशों की दुर्गन्ध से मेरा दम घुटने लगा, और मैं आगे बढ आया। कुछ ही दूर पर कतारों के तारों के शांत स्वरों पर मेरी दृष्टि जम गई-मैंने देखा कि अगणित साधु संत चंदन के तिलकों और तुलसी की मालाओं को धारण किये हुए तथा कई योंही ऊपर उड़ते चले जारहे हैं-वे दूर देशके प्रेमी, भक्तजन प्राकृतिक जगत् की प्राकृतिक माया में फँसना नहीं चाह रहे हैं। इसलिये मैं भी उनकी मायामें न उलझ कर द्रुतगति से सुदूर तक चला आया, पर आगे भी क्या देखता हूँ कि श्रीकृष्ण स्वयं व्रज-वनिताओं के वसन चुरा कर कदम्ब की डालियों पर बैठे मुस्करा रहे हैं और नगी गोपिकायें नत नयन हैं तथा झुर मुटों, करील-कुंजों मे छिपे छिपे कवि गण उन नग्न वनिताओं का नख-शिख वर्णन करने में तल्लीन हैं। मेरा वहाँ क्षण भर भी रुकना कठिन हुआ और इस आशा से करील-कुंजों की सीमा पार कर गया कि आगे कहीं अवश्य ही शान्त प्राकृतिक स्थल दिखाई देगा, पर यह मेरी आशा मात्र ही रही। आगे आनेवाली सुन्दरता ने मुझे आकर्षित तो अवश्य किया, पर उपवनों का वह सौन्दर्य किस काम का, जो सर्वांगीण और प्राकृतिक नहीं। सच कह दिया जाय तो वह मुझे प्रिय नहीं लगा-इसलिये कि विविध रंगीन फूलों को चुन चुन कर गुलदस्ता बनालेना ही कवि का कर्तव्य नहीं। मैंने आँख खोल कर चारों ओर देखा-पुनः नयन मूँद कर अपने

भीतर झाँका। मुझे अपना गंतव्य पथ स्पष्ट दीखने लगा। युग युग से उपेक्षित तथा चिरकाल से तिरस्कृत अपार पीली पीली स्वच्छ बालुका राशि को प्राणों की ज्योति से नयन भर भर कर मैं निहारने लगा तो वह मुझे अपनी आत्मा की मौन वाणी में यह कहती दिखाई पड़ी···

सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज
अहं त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्ष्ययिष्यामि, मा शुच

व्यामोह में फँसे हुए अर्जुन की तरह किंकर्तव्यविमूढ़ मैं बालुका के श्री कृष्ण का अलौकिक और विराट् दिव्य स्वरूप देख कर ही सत्य को पहचान सका। मैंने अपनी कल्पना के तीर तथा भावना के गांडीव को सँभाला और कर्तव्य को पूरा करने लगा, पर तब भी कलियों, भ्रमरों और बादलों तथा नीहार-कणों में ही सौन्दर्य-भावना की भ्रान्ति मेरा पीछा कर रही थी। मैंने चारों ओर बिखरे साहित्य के पृष्ठों को समेटा और पढने लगा ··

सभी सिद्धान्त सीमित हैं, किन्तु कला के लिये कोई सीमा नहीं है, कोई बन्धन नहीं है, जिसके अंतर्गत उसे बाँधने की चेष्टा करें-सिर्फ सौन्दर्य ही उसकी सीमा या बधन है, किन्तु उस सौन्दर्य की परख किन्हीं सुनिश्चित सीमाओं में नहीं की जा सकती। — (हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी पृ०सं० ८३ (नंददुलारे वाजपेयी)
में पढ़ता गया--

जो केवल पावस की हरियाली, बसन्त के पुष्पहास के समय ही वनों और खेतों को देख कर प्रसन्न हो सकते हैं, जिन्हें केवल मंजरी-मंडित सालों, प्रफुल्ल कदम्बों और सघन मालती कुंजों का ही दर्शन प्रिय लगता है-ग्रीष्म के खुले हुए पट पर खेत और मैदान, शिशिर की पत्र-विहीन नंगी वृक्षावली और झाड़ बबूल आदि जिनके हृदय को कुछ भी

स्पर्श नहीं करते, उनकी प्रवृत्ति राजसी समझनी चाहिए । वे केवल विलास या सुख की सामग्री प्रकृति में ढूँढते हैं । (चिन्तामणि भाग २ पृष्ठ सं० ११, १२ (राम चन्द्र शुक्ल) उत्कंठा, और बढी, पृष्ठ उलटने लगा ।

"कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः"

हमारा कवि संसार में उसी कविर्मनीषी का प्रतिनिधि है, इसलिये यह जड़ चेतन में छिपी हुई उस एक ही परम चेतन की ज्योति को पहचान कर उसके साथ अपनी आत्मा की ज्योति का सम्मिलन करादेता है, तब उसे यह सारा संसार एक ही प्रकाश मे चमकता हुआ दिखाई पड़ता है । (शान्ति प्रिय द्विवेदी)

मेरा भ्रम निशा के अंतिम क्षणों के तिमिर की तरह प्रातःकालीन प्रकाश पुंज में खो गया । तथागत बुद्ध की भाँति मुझे स्वतः ज्ञान प्राप्त हो गया और ज्योतिर्मय नेत्रों से भेदभाव भूलकर बालुका-राशि को देखने लगा उस समय जैसे वह कह रही थी—

"किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः"

(गीता)

प्रत्येक पृष्ठ उलट पुलट कर पाठकों के सम्मुख रखनाही मुझे उचित जान पड़ा ···

जो केवल अपना प्रेमानंद केवल इन शब्दों में प्रकट करते हैं कि अहाहा ! कैसे लाल पीले, और सुन्दर फूल खिले हैं, पेड किस प्रकार यहाँ से वहाँ तक एक पंक्ति में चले गए हैं, लताओं का कैसा सुन्दर मंडप सा बन गया है, कैसी शीतल, मंद, सुगन्ध हवा चल रही है, उनका प्रेम कोई प्रेम नहीं—उसे अधूरा समझना चाहिये । वे प्रकृति के सच्चे उपासक नहीं-तमाशबीन हैं, और केवल अनोखापन, सजावट या चमत्कार देखने

निकलते हैं। ×× कंकरीले टीलों, ऊसर पट परों, पहाड़ के ऊबड़ खाबड किनारों या बबूल करौंदे के झाड़ों में क्या आकर्षित करने वाली बात नहीं होती? (चिन्तामणि भाग २ पृ० सं० ७)

"प्रकृति में कुछ भी असुन्दर नहीं, यहाँ व्यष्टि भेद नहीं है" –(हि० सा० बीसवीं शताब्दी पृ० सं० १६४ (नंद दुलारे वाजपेयी)

यह अनंत रूपात्मक कल्पना व्यक्त और अगोचर है-हमारी आँखों के सामने बिछी हुई है। जो लोग ज्ञात या अज्ञात के प्रेम, अभिलाष, लालसा या वियोग के नीरव सरव क्रंदन अथवा वीणा के तार-झंकार तक ही काव्य भूमि समझते हैं, उन्हें जगत् की अनेक रूपता और हृदय की अनेक भावात्मकता के सहारे अंध–कूपता से बाहर निकालने की फिक्र करनी चाहिये। ···मानव-जीवन के पुराने सहचर वृक्षलता, पगडंडी, पट पर, लम्बे मैदान, लहराती जल-राशि, वर्षा की झड़ी कोई पालतू या जंगली पशु, हमारी सोई हुई चेतना को जगाने में बहुत समर्थ है। ––(रामचन्द्र शुक्ल)

चारों ओर अब भी भ्रमर-गुंजन और विहग-कलरव का शोर-गुल सुनाई दे रहा था। 'छायावाद' 'छायावाद' की तुमुल ध्वनि गूँज रही थी। मैं इन सब से अपरिचित था-मेरी जिज्ञासा बढी, आखिर "छायावाद" है क्या ? यत्र तत्र दृष्टि डाल पृष्ठों में ढूँढने लगा–

'छायावाद' युग भी हिन्दी में बसन्त की तरह आया और उपवन में कितने ही प्रशस्ति-गायक कोकिल कोकिलायें कूज उठी। –(छायावाद और रहस्यवाद की भूमिका पृ० सं० १-२ नंददुलारे वाजपेयी)

"उसने (छायावाद ने) अपने क्षितिज से क्षितिज तक विस्तृत सूक्ष्म की सुंदर और सजीव चित्रशाला में हमारी दृष्टि को दौड़ा २ कर

ही उसे विकृत जीवन की यथार्थता तक उतरने का पथ दिखाया। इसी से 'छायावाद' के सौन्दर्य–द्रष्टा की दृष्टि कुत्सित यथार्थ तक भी पहुँच सकी। –(आधुनिक कवि, पृ० सं० १४ महादेवी वर्मा)

इसके साथ ही निम्नलिखित पंक्तियाँ भी सामने आईं–

"प्रकृति-वर्णन की ओर हमारा काव्य कुछ अधिक अग्रसर हुआ पर प्रायः वहीं तक रहा, जहाँ तक उसका संबध मनुष्य के सौन्दर्य की भावना से है । प्रकृति के जिन सामान्य रूपों के बीच नर–जीवन का विकास हुआ है, जिन रूपों से हम बराबर घिरे रहते आये हैं, उनके प्रति वह राग या ममता व्यक्त न हुई, जो चिर सहचरों के प्रति स्वभावतः हुआ करती है। प्रकृति के प्रायः वे ही चटकीले भड़कीले रूप लिये गये जो सजावट के काम के समझे गये। –(हिन्दी साहित्य का इतिहास,– पृ० सं० ५४२ रामचन्द्र शुक्ल)

पर इतने से ही संतोष नहीं हुआ–देखता चला गया—

"कलावाद" के प्रसंग में बार बार आने वाले सौन्दर्य के कारण बहुत से कवि बेचारी स्वर्ग की अप्सराओं को पर लगा कर कोहकाफ की परियों या बिहिश्त के फरिस्तों की तरह उड़ाते हैं-सौन्दर्य-चयन के लिये इंद्र-धनुषी बादल, उषा, विकच कलिका, पराग, सौरभ, स्मित आनन अधर पल्लव इत्यादि बहुत सी सुन्दर और मधुर सामग्री प्रत्येक कविता में जुटाना आवश्यक समझते हैं। स्त्री के नाना अंगों के आरोप के बिना वे प्रकृति के किसी दृश्य के सौन्दर्य की भावना ही नहीं कर सकते।..... इस प्रकार काव्य में जीवन की अनेक परिस्थितियों की ओर ले जानेवाले प्रसंगों या उपाख्यानों की उद्भावना बंद सी हो गई। —(हिन्दी–साहित्य का इतिहास, पृ० सं० ५७०, (रामचंद्र शुक्ल)

मेरे विचार में अनंत रूपों से भरा हुआ प्रकृति का विस्तृत क्षेत्र

उस 'महामानस' की कल्पनाओं का अनंत प्रसार है। —(हि० सा० का—इतिहास, पृ० सं० ५१७, (रामचंद्र शुक्ल)

वह दिन अब जाता रहा है, जब प्रकृति सिर्फ उद्दीपन भाव के रूप में या केवल सजावट के रूप में चित्रित की जाती थी, और यदि नहीं गया है तो जाने की तैयारी में है। —(हि० सा० की भूमिका, पृ० स०—१३३ हजारी प्रसाद द्विवेदी)

यह सब पढ़ लेने पर मेरे नयनों के आगे आलोक नाचने लगा। अपनी भावनायें मैं बालुका पर अंकित करने लगा—

"प्रकृति के प्रतिनिधि आधुनिक छायावादी कवियों ने प्रकृति के समुद्र का मंथन तो अवश्य किया, पर वे मोहिनी की अंग भंगिमा पर आसक्त हो गये-उनके हाथों से अमृत का घट कब छूट गया, उन्हें ज्ञात ही नहीं हो सका। उन रूप रंग के प्रेमियों के हाथ केवल सुरा ही लगी, जिसका पी पी कर वे नाचने लगे।"

छायावादी कवियों को प्रकृति के विराट् सौन्दर्य का प्रतिनिधि माना जाताहै, किन्तु उनके प्रकृति-वीक्षण की गाड़ी उसी लाइन पर ही चलती रही जिस पर रीतिकाल के प्राकृतिक कवियों की चलती थी हाँ रीतिकालीन प्राकृतिक सड़क क्षत-विक्षत होगई थी-छायावादियो ने उसकी अंग्रेजी ढंग पर मरम्मत करली। किसी एक प्रदेश की "आउट एजेन्सी" की तरह वह साँझ-सबेरे उसी एक ही प्रदेश में "रन" करती रही।

रीतिकालीन प्राकृतिक कविता पीताम्बर, पादुका, माला आदि धारण करती थी तथा तिलक लगाती थी और आधुनिक छायावादी प्राकृतिक कविता कोट, पेन्ट, ऐनक आदि धारण किए हुए है, तथा बाल सँवारे हुए है। फर्क इतना ही है कि वह व्रज-भूमि के करील कुंजों में

रास-विहार करती थी और वह कटे छँटे कृत्रिम पार्कों में माला गूँथती है।

प्रकृति के अनन्त और विराट् क्षेत्र में भी प्रकृति के प्रतिनिधि कवि तेली के बैल की ज्यों 'कोल्हू' के चारों ओर संकुचित सीमा में ही आँख बन्द कर चक्कर काटते रहे—कोल्हू के दण्ड को ही उन्होंने असीम मान लिया।

'रहस्यवाद' के साधक चितकों ने भी उस शाश्वत् ज्योति के रहस्य को 'परिमल' और 'नीरजा' में ही देखा—अन्यत्र नहीं।

इतना होते हुए भी प्रकृति के कवियों में चारों ओर लोगों का अन्ध-विश्वास अधिक देखा। इस कूपमंडूकता का निवारण करने के लिये प्रकृति के आधुनिक प्रतिनिधि कवि स्वयं ही अपनी आँखों के सामने आ रहे हैं—

"आँसू' में प्रसादजी ने यह निश्चित रीति से प्रकट कर दिया कि मानुषीय विरह मिलन के इंगितों पर वे 'विराट्' प्रकृति को भी साज सजा कर नाच नचा सकते हैं"। —(हि० सा० बीसवीं शताब्दी, पृ०—सं० १२३ (नंद दुलारे वाजपेयी)

'प्रसादजी' दिवंगत हैं, अतः उनके विषय में मैंने अपना मत देना उचित नहीं समझा है—स्वर्गीय प्रसादजी के प्रति स्वर्गीय शुक्लाजी के ही विचार दे रहा हूँ—

जीवन के प्रेम—विलासमय मधुर पक्ष की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति होने के कारण.....प्रेम-चर्या के शारीरिक व्यापारों और चेष्टाओं (अश्रु, श्वेद, चुंबन, परिरंभण, लज्जा की दौड़ी हुई लाली इत्यादि) रँग-रेलियों और अठखेलियों.....की ओर इनकी दृष्टि विशेष जमती

थी। इसी मधुमयी प्रवृत्ति के अनुरूप प्रकृति के अनंत क्षेत्र मे भी बल्लरियों के दान, कलिकाओं की मंद मुस्कान, सुमनों के मधु-पात्र, मंडराते मलिन्दों के गुंजार, सौरभ-हर समीर को लपक, पराग-मकरंद की लूट, ऊषा के कपोलों पर लज्जा की लाली, आकाश और पृथ्वी के अनुरागमय परिरंभ, रजनी के आँसू से भीगे अंबर, चंद्र मुख पर शरद्-घन के सरकते अवगुंठन, मधु-मास की मधु-वर्षा, घूमती मादकता इत्यादि पर अधिक दृष्टि जाती थी। –(हि० सा० का इतिहास पृ० सं० ५९२ (रामचंद्र शुक्ल)

अब 'निराला' जी आरहे हैं–

निरालाजी छायावादी कवि कहे जाते हैं – उनका 'छायावाद' कहाँ है ? मुक्त छंदों में उनका दार्शनिक 'छायावाद' विराट् सत्ता और शाश्वत् ज्योति के रूप में व्यक्त हुआ है। –(हि० सा० बीसवीं–शताब्दी, पृ० सं० १४६ (नंद दुलारे वाजपेयी) 'निरालाजी' का गीत–इस बातका निराकरण कर रहा है–

अभरण वरण-गान
वन वन उपवन
जागी छवि, खुले प्राण

बात साफ है, निराला जी के प्राण और छवि वन और उपवन पर ही खुलते हैं। वन को तो प्रकृति के क्षेत्र में ले सकते हैं, पर क्या उपवन भी प्राकृतिक है? निरालाजी ने गोमती के किनारे उस पुजारी को तो देख लिया ,जो भूखे मानव की ओर न देख कर बन्दरों को पूए डाल रहा था, किन्तु दारागंज(प्रयाग)में रह कर भी त्रिवेणी के तट पर दूर दूर तक फैली हुई बालुका-राशि को उन्होंने नहीं देखा–हाँ लखनऊ के किसी बाग में "जूही की कली" का प्रेम-मिलाप

अवश्य देख लिया। जब वे अत्यन्त व्याकुल दशा में रहे तो इतना अवश्य कहा है—

स्तब्ध, दग्ध मेरे मरु का तरु
क्या करुणा कर! खिल न सकेगा?
मुझे स्नेह क्या मिल न सकेगा?

पर दुख की बात और है—कहा भी तो है—

"दुख में सुमिरन सब करें"

अधिक न कह कर प्रकृति के सम्बन्ध में मैं उनकी ही पंक्तियाँ उद्धृत कर रहा हूं—

जैसा भी कारण हो, हिन्दी के नवीन पद्य-साहित्य में विराट् चित्रों के खींचने की तरफ कवियों का उतना ध्यान नहीं, जितना छोटे मोटे सुन्दर चित्रों की ओर है। युक्तप्रान्त, मध्य भारत, बिहार मध्यप्रान्त, आदि एक ऐसी ही प्रकृति की गोद में है-जहाँ विराट् दृश्यों की अपेक्षा बाग तथा उपवनों के छोटे चित्र ही विशेषतः सूझते हैं। × × काव्य में साहित्य के हृदय को विगत प्राप्त करने के लिये विराट् रूपों की प्रतिष्ठा करना अत्यंत आवश्यक है। (काव्य में रूप और अरूप, प्रबन्ध पद्म पृ० सं० १६७ (निराला)

अब पंतजी की ओर आजाइये—

श्री नंद दुलारे जी वाजपेयी ने पंतजी की इन पंक्तियों को व्यापक सौन्दर्य की उपाधि प्रदान की है—

आज बन में पिक, पिक में गान
विटप में कलि. कलि में सविकास

कुसुम में रज, रज में मधु-प्राण
सलिल में लहर, लहर मे लास
--(हि० सा० बीसवीं शताब्दी, पृ० सं० १५६)

कोई भी पाठक उपरोक्त पंक्तियाँ पढ कर यही कहेगा-यह तो किसी वाटिका का दिग्दर्शन मात्र है । डा० नगेन्द्र जी के विचार भी पढ़ लीजिये–

"प्रकृति के विराट् सौन्दर्य पर पंतजी की सौन्दर्यमयी दृष्टि पल्लव, वीचि-जाल, मधुप-कुमारी, किरण, चाँदनी, अप्सरा, सध्या, ज्योत्स्ना, छाया, पवन, इंदु, सुरभि, तारिकाये आदि पात्रों का ही अभिनय देखती है अथवा देखना चाहती है । मेरी तुच्छ धारणा यही है कि किसी परिस्थिति विशेष के आवर्त मे फँस कर पंत जी विश्व के उस दूसरे किनारे जा निकले–यह उनकी प्रतिनिधि कविता नहीं हो सकती ।"

--(सुमित्रा नदन पत, पृ० सं० १६ (नगेन्द्र)

पंतजी की प्रकृति सम्बन्धी एकांगिता की ये उनकी पंक्तियाँ स्वयं साक्षी देती है–

जिस प्रकार किसी प्राकृतिक दृश्य मे उसके रंग–विरंगे पुष्पों, लाल, हरे पीले,छोटे बडे तृण-गुल्म-लताओ, ऊँची नीची सघन विरल वृक्षावलियों, झाडियों, छाया ज्योति की रेखाओं, तथा पशु-पक्षियों की ध्वनियों में का सौन्दर्य...रहता...। --(पल्लव की भूमिका पृ० सं० ३० (पंत)

पत जी का प्राकृतिक सौन्दर्य किसी उद्यान तक ही सीमित होने की गवाही देता है। और भी देखिये, वे द्रुमों की मृदु छाया छोड़ कर कहीं भी जाना पसन्द नहीं करते यहाँ तक कि किसी नवोढा बाला के बाल-जाल में भी अपने लोचन नहीं घुलाना चाहते —

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया, तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले, तेरे बाल-जाल में, कैसे उलझादूँ लोचन
भूल अभी से इस जगको ?

पंत जी के एक दो उदाहरण और देख लीजिये—

सुमन-दल चुन चुन कर निशि भोर
खोजना है अजान वह छोर
.....

मेरा अनुराग फैलने दो
नभ के अभिनव कलरव में
.....

मेरा मधुकर का सा जीवन
.....

वन वन उपवन, छाया उन्मन उन्मन गुंजन

"मौन निमंत्रण" में भी आपको नक्षत्र, चपला, सौरभ, लहर, खद्योत, ओसकण, इनकी ओरसे ही मौन निमंत्रण मिला है ? 'पल्लव' में भी (जो प्रकृति का व्यापक काव्य कहा जाता है) प्रकृति संबंधी निम्न लिखित कवितायें हैं— पल्लव, सावन भादों, भादों की भरन, वीचि-विलास, मधुकरी, अनंग, बसन्तश्री, निर्झर-गान, छाया, नक्षत्र, निर्झर, बादल, आदि । 'स्वर्ण धूल' में भी कहीं धूल नहीं दिखाई दी। पता नही, "स्वर्ण-धूल" कैसे नाम रख दिया ?

आइये, महादेवीजी वर्मा को भी देखलें—अपने विषय में महादेवीजी ने स्पष्टीकरण किया है—

मैं नीरभरी दुख की बदली
विस्तृत नभ का कोई कोना
मेरा न कभी अपना होना
परिचय, मेरा इतिहास यही
उमड़ी कल थी, मिट आज चली

वे अपने को एक सम्भ्रान्त बदली समझती हैं जो एक ओर ही बरस कर चली गई। नददुलारे जी वाजपेयी ने महादेवीजी के विषय में लिखा है–

प्रकृति के किसी भी दृश्य, या मनोभाव का आकलन उनकी रचनाओं में नहीं के बराबर है–दृश्य प्रकृति में "हिमालय" पर ही उनकी एक रचना 'यामा' मे देखने को मिली, किन्तु वहाँ भी अतर्मुखी भावना ही उभर आई है। ––(हि० सा०बीसवीं शताब्दी, पृ० सं० १६६)

अब महादेवी जी के प्रति प्रकृति के सबंध मे अधिक लिखना पिष्ट पेषण और अप्रासगिक होगा।

अब मैथिली शरण जी गुप्त की ओर बढ रहे हैं––

गुप्त जी हिन्दी में राष्ट्रीय भावना के ही कवि हैं। उनका प्रवाह प्रकृति की ओर नितान्त गौण है– इस बात की पुष्टि उनकी ही पंक्तियाँ कर रही हैं––

कवित्व स्वच्छन्दता-पूर्वक स्वर्ग के छाया पथ पर आनंद से गुन गुनाता हुआ विचरण करे, अथवा वह स्वर्गंगा के निर्मल प्रवाह में निमग्न होकर अपने पृथ्वीतल के पापों का प्रक्षालन करे–लेखक (गुप्त जी) उसे आयत्त करने की चेष्टा नहीं करता। उसकी तुच्छ तुकबन्दी सीधे मार्ग से चलती हुई 'राष्ट्र किंवा जाति-गंगा' में ही डुबकी लगा कर

'हर गंगा' गा सके, तो वह इतने में ही कृतकृत्य हो जायगा। कहीं उसमें कुछ बातों का उल्लेख भी हो जाय, तो फिर कहना ही क्या !

'गुप्त जी' भक्त कवि हैं-वे विशेषकर प्राणायम, जप जाप, तुलसी, चंदन, आदि में ही तल्लीन रहते हैं। एक समय भगवान के दर्शनों के लिये जब आप मंदिर की ओर जा रहे थे, तो बीच में ही 'छायावाद' के कलरव की "झंकार" में खो गये और उद्यान के लता-झुरमुटों मे आँख मिचौनी खेलने लगे, किन्तु कुछ समय पश्चात् उन्हें जब होश हुआ, तो मन ही मन यों पश्चात्ताप करने लगे ।

अच्छी आँख मिचौनी खेली ?

पंत जी ने पुराण-पंथियों को फटकारते हुए कहा है-

अधिकांश भक्त कवियों का समग्र जीवन मथुरा से गोकुल ही जाने में समाप्त हो गया-बीच मे उन्हीं की संकीर्णता की यमुना पड गई-कुछ किनारे पर रहे-कुछ उसी मे बह गये। बडे परिश्रम से कोई पार भी गये तो व्रज से द्वारिका तक पहुँचे। ससार की सारी परिधि यहीं समाप्त हो गई। (पल्लव की भूमिका, पृष्ठ सं० ६)

मेरा कथन भी पढ लीजिये—

अधिकांश प्रकृति के प्रतिनिधि छायावादी कवियों का समग्र जीवन उद्यान से बादल तक पहुँचने में ही समाप्त होगया-चारों ओर उन्हीं की संकीर्णता की त्रिवेणी पड गई-कुछ किनारे पर रहे-कुछ उसी में बह गये। बडे परिश्रम से कोई (पंतजी जैसे) पार भी गये तो यहां तक ही पहुँच सके

धूल की ढेरी में अनजान-छिपे हैं मेरे मधुमय गान

....

इस धरती के रोम रोम में, भरी सहज सुन्दरता

पर उन्होंने उस सुन्दरता को तथा मधुमय गानों को खोजने का प्रयत्न नहीं किया–संसार की सारी परिधि यहीं समाप्त हो गई।

पंत जी फिर फरमाते हैं—

इन साहित्य के मालियों (रीतिकालीन कवियों) में से जिसकी विलास वाटिका में प्रवेश करे, सब में अधिकतर वही कदली के स्तंभ, कमल-नाल दाड़िम-बीज, शुक, पिक, खंजन, शंख, पद्म सर्प, सिंह, मृग, चद्र, चार आँखे होना कटाक्ष करना, आह छोडना, रोमांचित होना, दूतभेजना, कराहना, मूर्च्छित होना, स्वप्न देखना, अभिसार करना बस इसके सिवा और कुछ नहीं। (पल्लव की भूमिका, पृष्ठ सं० ८)

और मैं कहता हूँ—

इन प्रकृति के मालियों (आधुनिक छायावादी कवियों) मे से जिसकी प्राकृतिक वाटिका में प्रवेश करे सबमें अधिकतर वही पल्लव वीचि-जाल, मधुप-कुमारी, किरण, चाँदनी, अप्सरा, सध्या, ज्योत्स्ना छाया, पवन, इन्दु, सुरभि, तारिका, नीहार, नीरजा. जूही की कली, परिमल वेला, नये पत्ते, चद्र मुख पर शरद् के घन का अवगुंठन सरकना, उषा के कपालों पर लज्जा की लाली, अम्बर का रजनी के आँसू से भीगना, मधुमास की मधुवर्षा, घूमती मादकता, पराग-मकरंद लूटना, बल्लरियों का सुरभि लुटाना–बस इसके सिवा और कुछ नहीं।

चारों ओर निरीक्षण कर लेने के पश्चात् अब पुनः इन पंक्तियों की ओर लौट आइये–

जो केवल प्रफुल्ल-प्रसून-प्रसार के सौरभ-संचार, मकरंद-लोलुप-मधुप गुंजार, कोकिल-कूजित-निकुंज, और शीतल-सुख-स्पर्श-समीर, इत्यादि

की ही चर्चा किया करते हैं वे विषयी या भोग-लिप्सु हैं–इसी प्रकार जो केवल मुक्ताभास-हिमबिन्दु-मंडित मरकताभ शाद्वल-जाल, अत्यन्त विशाल गिरि शिखर से गिरते हुए जल प्रपात के गंभीर-गर्त से उठी हुई सीकर नीहारिका के बीच विविध-वर्ण-स्फुरण की विशालता, भव्यता, और विचित्रता में ही अपने हृदय के लिये कुछ पाते हैं–वे तमाशबीन हैं–सच्चे सहृदय और भावुक नहीं। –(चिन्तामणि, प्रथम भाग, पृ० स० १४९ (रामचन्द्र शुक्ल)

अब मैं पुनः अपनी चिन्तना की अगुलियों से मरु के टीलों की बालुका पर लिख रहा हूँ–

प्रकृति के प्रतिनिधि कहलाने वाले आधुनिक छायावादी कवियों का पुष्पक विमान 'परिमल' में 'उच्छवास' लेता हुआ 'नीहार' के 'आँसू' चुनता रहा या 'बादल' की चौकड़ियों के साथ छलाँग भरता हुआ हरिताभ वन–उपवनों पर ही 'झंकार' करता रहा। भूल से भी कहीं कोई विस्तृत सपाट भूभाग अथवा बालुका राशि का सुनसान प्रांगण आया तो उसे 'फुर्र' से लाँघ कर सघन वृक्षावलियों की हरीतिमा में जा छिपा। उस पुष्पक विमान के चालकों ने कोई गवाक्ष खोल कर भी नहीं झांका। वे इस बात को भूल गये कि यह पुष्पक विमान विस्तृत सपाट मैदान अथवा अनंत सुनसान बालुका-राशि पर ही उन्मुक्त उड़ान भर सकता है। नीलाम्बर के विहंगों और नक्षत्रों में ही उसका आवास बनाना चाहा। उसकी गति और स्थिति के वास्तविक आधार को वे भूल बैठे–और इसीलिए वह स्वर्ग की परियों के संसार का चक्कर काटते काटते थक कर धड़ाम से धरती पर आ गिरा– आखिर, नीहारिका में कहाँ तक उडता ?

अपने को व्यापक प्रकृतिका प्रतिनिधि मानने वाले छायावादी कवियों की कल्पना के बादल सप्तरंग के इन्द्र-धनुष का मुकुट और विद्युत् की

वरमाला वहन, पहन कर क्षितिज से भी उस पार दूर दूर से पल पल प्रतिक्षण उमड़ घुमड़ कर आये, पर वे पल्लवों, निर्झरों, कलियों और कुसुमों पर ही अपना अमृत बरसा कर चलते बने। मधुकरों, तितलियों तथा विहगों पर ही उन्होंने अपना अंचल पसार कर शीतल छाया की—यहीं तक उनकी प्रकृति रही।

जैसे चाय के शौकीनों को दूध के स्वाद का अनुभव नहीं रहता, और जो दूध को चाय से हीन समझ कर उससे घृणा करते हैं, उसी प्रकार प्रकृति के प्रतिनिधि कहलानेवाले आधुनिक कवि भी हैं जो यह नहीं समझ पाये हैं कि चाय दूध के ही मामूली अंश से बनती है। जिसे गरम पानी में ही स्वाद आगया, वह भला दूध की पुष्टता और मधुरता को क्यों जानने लगे ?

प्रकृति के प्रतिनिधि कहलानेवाले आज के कवि को होटल के टी रूमों और सिनेमा के नाच घरों से फुर्सत नहीं है। इसलिए वह कभी-कभी अनजाने या जानबूझ कर किसी वातायन से प्रकृति को झाँक भर लेता है और इस वीक्षण के सहारे प्रकृति के विराट् सौंदर्य का वह प्रतिनिधि बनना चाहता है। कभी छुट्टी मिल जाती है, तो वह किसी सार्वजनिक उद्यान में बैठकर प्राणों की प्राण अपनी प्रिया के स्वरूप में सारी वाटिका के पराग और मकरन्द को उँडेल देता है। उपवन के किसी हौज में सरित्पति का और उपवन की जल-नालियों में सरिता का स्वरूप अंकित कर डालना वह अपने बाँयें हाथ का खेल समझता है। अनन्त बालुका राशि या किसी मैदान के छोर पर बैठ कर वह उसका सौन्दर्य-चयन नहीं कर सकता, क्योंकि उस ओर जाने में उसकी कीमती पैंट और कोट के मैला होने का डर है।

अपने को प्रकृति के प्रतिनिधि होने का ढिंढोरा पीटनेवाले आधुनिक छायावादी कवियों के खोंमचों में वेजीटेबल घी की बनी हुई चटपटी चाट के सिवाय और कुछ है ही नहीं।

हिन्दी के प्रमुख समालोचकों ने आधुनिक छायावादी कवियों को प्रकृति के व्यापक सौन्दर्य के प्रतिनिधि होने की घोषणा की है, यही नहीं वे कवि स्वयं भी अपने आपको विराट् प्रकृति के चेतना-प्रतीक सिद्ध करते हैं—पर यह न्याय-संगत नहीं। उन्होंने प्रकृति का जो रमणीय रंग स्थल चुना है— अनंत और व्यापक प्रकृति वहीं तक ही सीमित नहीं, मैं या तो उन्हें 'पावस के दादुर' अथवा 'वसन्त के मधुकर' और अधिक से अधिक 'स्वर्ण-विहान के बाल विहग' कहूँगा—इससे अधिक नहीं जिस प्रकार युग युग से चलती आ रही ऊँच और नीच, धनी तथा निर्धन की भावना ने उच्च एवं धनी को अवसर तथा नीच हीं और निर्धन को कष्ट दिया और हेय समझा है उसी प्रकार युग युग से चली आ रही इसी भावना ने प्रकृति को भी दो विभागों में बाँट रखा है। हरीभरी सजल कुसुमित वसुंधरा काव्य के सौन्दर्य में स्थान पाती रही है, तथा सुनसान नीरव सपाट मरुधरा तिरस्कृत होती रही है। कलियाँ पल्लव, विहग, बादल, मधुकर, तितलियाँ, ये मधु पराग मे मदोन्मत्त बने ऐश्वर्य-शालियों का सा रूप धारण कर हमारे सामने आते हैं और सुनसान प्रांगण, बालुका-राशि, तथा उस पर कहीं से उड़कर बिखरे हुए सूखे पत्ते नंगों भिखमगों के रूप में। मैंने इन्हीं नंगों भिखमगों के स्वरूप को अपनी भावना मे भरा है, जिसे मैं उपरोक्त ऐश्वर्यशालियों के सौन्दर्य से भी बढ़ कर समझता हूँ।

अपनी कृति के सम्बन्ध में श्री नंददुलारे जी की पंक्तियाँ पर्याप्त समझता हूँ—किस रचन कार ने किन परिस्थितियों से प्रभावित होकर अपनी रचना की है—वह कितनी गहरी सहानुभति उत्पन्न करती है, इसकी तो वह कृति ही प्रमाण है। इसके सम्बन्ध में न तो हम कोई सीमा पहले से बाँध सकते हैं और न कोई नियम ही बना सकते हैं। (हि. सा. बीसवीं शताब्दी, पृ० सं० ८६)

'पंतजी' ने पहले से ही द्वार खोल रक्खा है—

"मुक्त काव्य आंतरिक ऐक्य, भाव-जगत् के साम्य को ढूँढता है—क्वार्टरों में रहनेवाले बाबुओं की तरह, भावना की परतन्त्रता के हाथो

बने हुए घरों के अनुसार अपने खाने, पीने, सोने रहने की सुविधा को कुछ इने गिने कमरों में ही येन केन प्रकारेण ठूँस ठाँस कर जीवन-निर्वाह नहीं करना पड़ता, वह अपनी स्वतन्त्र इच्छा, स्वाभाविक रुचि के अनुरूप अपनी आत्मा के सुविधानुसार अपना निकेतन बनाता है, जिसमें उसका जीवन अपने कुटुम्ब के साथ स्वेच्छानुसार हाथ पाँव फैलाकर सुख-पूर्वक रह सके। —(पल्लव की भूमिका, पृ० सं० ३९)

"निन्दन्तु वा स्तवन्तु" का मुझे कुछ भी विचार नहीं है—मेरी धारणा है कि "उत्पत्स्यते क्वचित् कोऽपि समान-धर्मा"— इसलिये "निरालाजी" के शब्दों में यही देखना है कि तम के पार कौन है? (कौन तम के पार रे, कह)—इन मरु के टीलों के विषय में इतना अवश्य कहूंगा —

मैं इनको कैसे बिसराऊँ ?
ये मेरे मानस के नीरज
इनसे दूर न जीवन मेरा
इनमें मेरा झलक रहा पथ
इनमें मेरा हृदय छिपा है
निकट हृदय के कितने हैं ये
इस जग को कैसे समझाऊँ ?

—परमेश्वर द्विरेफ

२ दिसम्बर ५१,
(रविवार)
द्विरेफ-भवन,

नरु के टीले

(१)

करूँ तुम्हारा पूजन माता ! करूँ तुम्हारा पूजन,
स्नेह नहीं है इन गीतों में
कैसे मधुर बनाऊँ ?
वीणा नीरव, कंठ रुद्ध है
कैसे, क्या मैं गाऊँ ?
नयन सजल, मन उन्मन

नयन गगन की ओर, हृदय में
उठती सुप्त व्यथायें
निःश्वासें सूने श्रवणों को
कहती करुण कथायें
शिथिल चरण, नीरव तन
वीणा के नीरव तारों पर
सोई व्यथा पुरानी
वीणा की बीती गीतांजलि
केवल एक कहानी
एक तुम्हारा चिंतन

(२)

मूक टीलों पर चिरंतन
मौन तन्त्री गीत गाओ

भावना का स्रोत झिलमिल
जिस दिशामें वह न पाया
कल्पना का नव सरोरुह
जिस दिशा में खिल न पाया

उठ न पाई जिस दिशा में
स्नेह की संगीत-लहरी
जिस दिशा में हो विवशता
मूकता, चिर व्यथा गहरी

उस दिशा में स्रोत बनकर
नव सरोरुह को खिलाकर
स्नेह की संगीत-लहरी
उस दिशा में नित उठाकर

मूकता चिर व्यथा, दुख पर
शान्ति, सुख अपना बिछाओ

(३)

ये किसे खोजते हैं टीले ?

तन जलता है, मन जलता है
फिर भी कितनी चंचलताहै ?
क्षण प्रतिक्षण उड़ने पर भी क्यों
अरमान सुखद रहते ढीले ?
ये किसे खोजते हैं टीले ?

किसको पाने ये चिन्तित हैं ?
वह कौन कसक उठती नित है ?
जिससे नीरस जीवन इनका
तन, मन रहते पीले पीले ?
ये किसे खोजते हैं टीले ?

सहसा पीड़ा होती मन में
तन झुलस झुलस उठता क्षणमें
दृग हूक व्यथा से लगनभमें
देखा करते उड़ती चीलें
ये किसे खोजते हैं टीले ?

(४)

इनको कौन सजाने आता ?

जगती का सौन्दर्य भूल कर
नीरव, नीरस, तप्त, धूल पर
चिरसंचित स्वर्णिम वैभव को
कौन मौन यों ही बिखराता ?

गहरी विशद्, विराट् भावना
लिये कौन वह सत्य कामना
चिरसंपीडित पद-दलितों के
मूक गान का नीरव ज्ञाता ?
इनको कौन सजाने आता ?

नित नवीन अभिराम कलायें
देख देख ये गीत बनाये
उसके इस निस्स्वार्थ स्नेह के
आगे मेरा सिर झुक जाता
इनको कौन सजाने आता ?

(५)

टीलों के भी अंतस्तल है

इनके भी स्वर्णिम इच्छायें
रखते ये भी अभिलाषायें
परित:व्यापी तम में जलती
आशा की लौ पल प्रतिपल है
टीलों के भी अंतस्तल है

कितनी ही उरमें रेखायें
ढहती बनती उर भरमाये
चिर पीडा की नि:श्वासों से
रहते ये नीरव विह्वल है
टीलों के भी अंतस्तलहै

पीडासे हूक उठा करती
कोकिल सी कूक उठा करती
इनके अपने स्वर्णिम सपने
करते रहते इनसे छल है
टीलों के भी अंतस्तल है

(६)

हम अब भी धूल उडाते हैं

जग में छाया प्रत्यूष मदिर
कलि पर मँडराते भ्रमर बधिर
वन उपवन में नभ प्रांगण में
पंछी पल प्रतिपल गाते हैं
हम अब भी धूल उड़ाते हैं

लतिका विटपीगण पल प्रतिपल
पुलकित हैं नृत्य-निरत चंचल
पर अविचलगति से मानस को
अरमान यहाँ तड़फाते हैं
हम अब भी धूल उड़ाते हैं

सुखकी शय्या प्रातः तजकर
मैं सदा घूमने को जगकर
जाता हूँ तब पल प्रतिपल ये
निःश्वासें ले ले गाते हैं
हम अब भी धूल उड़ाते हैं

(७)

टीले रहते उन्मन जर्जर

इनका अविराम करुण क्रन्दन
इनका चिर विरह-व्यथित स्पन्दन
इनकी दुख व्यथा मयी चितवन
हो मौन देखता है अम्बर
टीले रहते उन्मन जर्जर

इनकी स्मृतियों की लोल लहर
जगती भावों से टकरा कर
स्मृतियों में स्मृतियों का ग्रन्थन
कर बढती रहती सर सर सर
टीले रहते उन्मन जर्जर

लहरों में करुणा गान यहाँ
भावों में दुखप्रद तान यहाँ
चितवन नीरव वीरान यहाँ
लयमय नर्तन मंथर मंथर
टीले रहते उन्मन जर्जर

(८)

टीलों का नभ से नाता है

त्याग अलौकिक विद्वत्ता की
देश-प्रेम, शुचि निर्भयता की
इनके इन रजकण–कण कण–में
छिपी हुई सारी गाथा है
टीलों का नभ से नाता है

दुनियाँ बदल चुकी है सारी
उजड़ उजड़ लगती फुलवारी
स्वप्न अटूट चिरंतन वह ही
किन्तु यहाँ चलता जाता है
टीलों का नभ से नाता है

नि:श्वासों में छिपी कहानी
रजकण में अभिराम निशानी
कभी कभी भूला भटका खग
बैठ यहाँ यह गा जाता है
टीलों का नभ से नाता है

(९)

टीलों में कंटक होते हैं

सुनसान प्रभात सुनहरी भी
सुनसान सुवास दुपहरी भी
स्वच्छन्द निरन्तर रजनी में
नित उल्लू गीदड़ रोते हैं
टीलों में कंटक होते हैं

नर्तन होता, कोलाहल भी
विश्वास यहां, होता छल भी
दुनियाँ के जब अविरल प्राणी
निद्रा में जब नीरव सोते हैं
टीलों में कंटक होते हैं

जाती निशि . नि:श्वासें धारे
निर्जन नभ के हँसमुख तारे
पीड़ा से प्रतिपल घुलघुल कर
दृग जल से आनन धोते हैं
टीलों में कंटक होते हैं

(१०)

टीले क्या जानें मुस्काना ?

सतत सृष्टि के आदिम युग से
कूल, किनारा खोज रहे हैं
मिल न सका है जरा कहीं भी
जीवन में दुर्लभ है पाना
टीले क्या जानें मुस्काना ?

झंझायें टक्कर पर टक्कर
इधर उधर से, उधर इधर से
देदे कर पथ भ्रष्ट कर रही
क्लेश दे रही है मनमाना
टीले क्या जानें मुस्काना ?

तापव्यथित ये, तिमिरमथित ये
डूबे, खोये नीरवता में
व्यथा, क्लेश से मूक, मौन हैं
जीवन में क्या गायें गाना ?
टीले क्या जानें मुस्काना ?

(११)

टीले श्रम करते रहते हैं

ये साहित्य–विहीन नहीं है
ये संगीत–विहीन नहीं हैं
लय है, शैली है, नर्तन है
भावों में बहते रहते हैं
टीले श्रम करते रहते हैं

यहाँ नहीं संकीर्ण हृदय है
यहाँ नहीं मनमें संशय है
नीरस तन को तापित कर कर
रजकण से भरते रहते हैं
टीले श्रम करते रहते हैं

हो निशीथ चाहे दोपहरी
रुक न यहाँ पाती श्रम-लहरी
थिरक थिरक प्रतिपलअनन्त का
ध्यान सतत धरते रहते हैं
टीले श्रम करते रहते हैं

(१२)

ये मरुभू के मौन तपस्वी

शिव अतीत के बिखरे सपने
सुखकर मानस के प्रिय अपने
पलपल प्रतिपल खोज रहे हैं
ये मरुभू के विमल यशस्वी
ये मरुभू के मौन तपस्वी

सुख से निज मुख मोड़ चुके हैं
सब कुछ अपना छोड़ चुके हैं
दृढ़ प्रतिज्ञ निश्चल प्रताप से
ये मरुभू के दिव्य मनस्वी
ये मरुभू के मौन तपस्वी

अविरल वृष्टि, हिमानी, आतप
में करते चिरनिश्चल ये जप
रजकण में खोये वैभव को
फिर पाने तप-लीन तपस्वी
ये मरुभू के मौन तपस्वी

(१२)

इनमें वैभव की गंध नहीं

कोकिल के मनहर गान नहीं
चल मधुकर के मधुपान नहीं
करता सौरभ से अठखेली
चुपचाप पवन अति मंद नहीं
इनमें वैभव की गंध नहीं

लतिकाओं का उल्लास कहाँ ?
तरु पर कलरव का हास कहाँ ?
शीतल अभिराम निकुंजों की
कलिकाओं का मकरंद नहीं
इनमें वैभव की गंध नहीं

स्वच्छन्द तदा ये गाते हैं
जो कुछ भी है, बिखराते हैं
यौवन के मीठे गान नहीं
अभिमान लिये दृग बंद नहीं
इनमें वैभव की गन्ध नहीं

(१४)

ये व्यथित प्रकृति के ललित संत

एकाकी, नीरव, निर्विकार
तप—लीन निरंतर निराहार
निष्काम सुघर अविराम अचल
मरुभू नीरवता के महंत
ये व्यथित प्रकृति के ललित संत

कोकिल स्वर इन्हें भुला न सके
कलि-नर्तन भी बहका न सके
हैं आत्मलीन अविराम विमल
जगती के तज अभिनव बसन्त
ये व्यथित प्रकृति के ललित संत

आशा उरमें कुछ शेष नहीं
क्षण क्षण परिवर्तित वेश नहीं
इनके अति निर्मल कण कण में
है नाच रहा प्रतिपल अनंत
ये व्यथित प्रकृतिके ललित संत

(१५)

कितने ये सुकुमार चिरंतन ?

कण कण में निर्मलता अनुपम
शान्त सरल भावना मनोरम
चित्ताकर्षक शुचि सुघराई
कितनी भोली भाली चितवन ?
कितने ये सुकुमार चिरंतन ?

अल्हड़ से फूले फूले से
गायन में भूले भूले से
हैं स्वच्छन्द विचरते रहते
पल प्रतिपल तजकर जग-बन्धन
कितने ये सुकुमार चिरंतन ?

शिथिल शिथिल से हारे हारे
सोजाता पग हाथ पसारे
नयन देखते रहते इनको
उरमें होता रहता स्पन्दन
कितने ये सुकुमार चिरंतन ?

(१६)

धीरे धीरे वह आता है

आतप में मौन खड़ा रहता
जाने क्यों क्लेश कड़ा सहता
फिर व्याकुल आकुल विह्वल हो
तन पर रजकण बिखराता है
धीरे धीरे वह आता है

फिर ताँडव-तन्मय शंकर सा
क्रोधित वैताल भयंकर सा
जा इधर उधर, आ उधर इधर
परितः ही धूल उड़ाता है
धीरे धीरे वह आता है

मेरे जीवन ! मेरे प्यारे !
मानस मेरे ! दृग के तारे !
टीलों को बाँहों में भर भर
करुणार्द्र हृदय ले गाता है
धीरे धीरे वह आता है

(१७)

फिर भी हृदय नहीं भरता है

ठंडे ठंठे टीले रजकण
सहलाते रहते उरके व्रण
धीरे धीरे धीरे धीरे
पवन विमल पीड़ा हरता है
फिरभी हृदय नहीं भरता है

हँसता भू नभ का अंतस्तल
परितः हँसमुख, चंचल प्रतिपल
नव नभ में प्रत्येक खगीखग
आकर्षक अभिनय करता है
फिर भी हृदय नहीं भरता है

मन में होता रहता चिन्तन
उड़ उड़ कर खोजाते रजकण
क्षण-भगुर बुद् बुद् ज्यों कितनी
नव जीवन की अस्थिरता है ?
फिर भी हृदय नहीं भरता है

(१८)

युग युग से टीले एकाकी

मानस में इच्छा अभिलाषा
रजवत् बिखरी, तृणवत् जल जल
धूँआ ही धूँआ, पीड़ा के
अंगारों पर स्मृतियाँ बाकी
युग युग से टीले एकाकी

ये ऊपर से चित-चोर, कान्त
पर भीतर हाहाकार, रुदन
वह क्या जाने जिसने केवल
देखी ऊपर की ही झाँकी
युग युग से टीले एकाकी

सुध बुध बिसरा नीरव, विह्वल
मैं बड़े ध्यान से सुनता हूँ
मानस-तंत्री पर करुण कथा
वेदना मूकता पीड़ा की
युग युग से टीले एकाकी

(१९)

इनके आँसू सूख चुके हैं

ये विक्षिप्त, करुण हैं इनको
जीवन का कुछ मोह नहीं है
भरा हुआ है तिमिर हृदय में
आशाओं की टोह नहीं है

कान्त सुखद स्वर्णिम सपनों के
पल प्रतिपल अति नीरस रजकण
अखिल शून्य में बिखर चुके हैं
उष्ण दीर्घ निःश्वासों से बन

व्यथित, दुखित, पीड़ित, सूने ये
इस अति विस्तृत स्वर्णिम जग में
नीरव नीरस एकाकी ये
जीवन के अति निर्जन मग में

मनमें कुछ झन्कार नहीं है
जीवन से ये ऊब चुके हैं
इनके आँसू सूख चुके हैं

(२०)

टीलों पर उल्लू गाते हैं

बल्लरियों की कलिकाओं का
नव भ्रमर जहाँ करते चुम्बन
अविराम वहाँ उल्लास लिये
कवि कविता रचने जाते हैं
टीलों पर उल्लू गाते हैं

सरिता के तट पर घट भरने
प्रिय जहाँ युवतियाँ जाती हैं
अविराम वहाँ मुस्कान लिये
गायक बाँसुरी बजाते हैं
टीलों पर उल्लू गाते हैं

निर्झर की लहरों का नर्तन
सौन्दर्य, जहाँ हरियाली हो
अविराम वहाँ पर चित्रकार
अपनी तूलिका उठाते हैं
टीलों पर उल्लू गाते हैं

(२१)

इनका सूखा ही जीवन है

सपनों का प्रियसंसार अरुण
रूखा सूखा म्रियमाण करुण
सूखी आशा अभिलाषायें
सूखा तन है, भूखा मन है
इनका सूखा ही जीवन है

कोकिल–स्वर से अनभिज्ञ सदा
अति दूर मुकुल–सौरभ सुखदा
ये पा न सके हैं अलि–गुञ्जन
हो चुके स्वप्न सब रजकण हैं
इनका सूखा ही जीवन है

ये पीड़ित हैं, ये शापित हैं
ये व्यथित दुखित हैं, तापित हैं
नीरस हैं, पर फिरभी इनमें
मुझको लगता अपनापन है
इनका सूखा ही जीवन है

(२२)

ये अभिनय करते रहते हैं

नित कोई अतीत की पीड़ा
करती है सपनों से क्रीड़ा
उर की आशाओं के किसलय
पल प्रतिपल झड़ते रहते हैं
ये अभिनय करते रहते हैं

उठती रहती हैं उल्कायें
जल जल राख हुई इच्छायें
करुणा की नीरव वीणा पर
नित आहें भरते रहते हैं
ये अभिनय करते रहते हैं

नि:श्वासों से जीवन दूभर
बज बज शिथिल हो चुके नूपुर
मौन व्यथा से पटाक्षेप का
ध्यान सदा धरते रहते हैं
ये अभिनय करते रहते हैं

(२१)

इन पर कोई कैसे गाये ?

वैभव इनके पास नहीं है
होने की भी आश नहीं है
उर में भी विश्वास कहाँ है
जो होठों पर मुस्का पाये ?
इन पर कोई कैसे गाये ?

जग मकरंद-चयन में रहता
सौरभ की सरिता में बहता
कहाँ यहाँ अल्हड़ कलिकायें
जो इस जग के नयन लुभाये ?
इन पर कोई कैसे गाये ?

आशा, अभिलाषा नीरव है
तन नीरव है, मन नीरव है
नीरव दिन, नीरव दोपहरी
नीरव नीरव ही संध्यायें
इन पर कोई कैसे गाये ?

(२४)

जो टीलों पर बैठ न पाया

कितना ही सोना, चाँदी हो
कितने ही सेवक, बाँदी हो
कितना ही धन माल खजाना
कितनी ही दौलत माया
जो टीलों पर बैठ न पाया

कितनी ही हो अभिलाषायें
मनोकामना नव आशायें
कितनी ही हो अभिनव मनहर
हृष्ट पुष्ट, शिव पुलकित काया
जो टीलों पर बैठ न पाया

चाहे नित मधुपान किया हो
माधव में मधुगान किया हो
पथ पर सुमन बिछे हों मृदु, पर
दुनियाँ में वह यों ही आया
जो टीलों पर बैठ न पाया

(२५)

यदि शान्ति कहीं है ? तो इनमें

संशोधित स्फटिक समान विमल
दिन कर की किरणों सा उज्ज्वल
तन का कण कण गोरा गोरा
यदि कान्ति कहीं है ? तो इनमें
यदि शान्ति कहीं है ? तो इनमें

मन-निर्मित सपनों से पागल
यों ही उड़ते रहते प्रतिपल
वन-खंडों मे, तरु झुन्ड़ों में
यदि भ्रान्ति कहीं है ? तो इनमें
यदि शान्ति कहीं है ? तो इनमें

मरने जीने का मोह त्याग
गाते हैं भीषण प्रलयराग
नभ, जल, थल, कण कण हिला हिला,
यदि क्रान्ति कहीं है ? तो इनमें
यदि शान्ति कहीं है ? तो इनमें

(२६)

टीलों की अपनी ही शैली

अपने ही में लीन किसी से
इनका कोई नहीं प्रयोजन
कर न सकी पथ-भ्रष्ट कभी भी
धन वैभव की इच्छा मैली
टीलों की अपनी ही शैली

स्वार्थ कपट से दूर निरंतर
करते आये मौन साधना
नहीं चाहते जगती की ज्यों
ये सोने चाँदी की थैली
टीलों की अपनी ही शैली

मैं मोहित इनकी चितवन पर
शान्त सरलता भोलेपन पर
सदा अहर्निश अवलोकन से
नव गायन स्वर-लहरी फैली
टीलों की अपनी ही शैली

(२७)

टीलों को समझ न पाया जग

टीलों ने समझ लिया जग को
अम्बर ने समझ लिया खग को
पर खग प्रतिपल उड़ उड़ कर भी
यह जान न पाया क्या है नभ ?
टीलों को समझ न पाया जग

टीलों का कितना विस्तृत उर
नभ, इन्दु, अरुण, नक्षत्र प्रचुर
कितने नक्षत्र गगन में यह
कब जान सका बेचारा खग ?
टीलों को समझ न पाया जग

अम्बर के तारों का स्पन्दन
माधुर्य गान, या है क्रन्दन
यह जान न पाया पल प्रतिपल
उड़ इधर उधर डगमग डगमग
टीलों को समझ न पाया जग

(२८)

आओ, बैठें इनपर क्षणभर

सूरज डूब चुका पश्चिम में
सध्या डूब रही रिमझिम में
आवासों में लौट रहे खग
हारे थके निरंतर दिनभर
आओ, बैठें इनपर क्षणभर

देखो तरु की डाल झुकी है
गायें भी घर पहुँच चुकी हैं
शून्य तिमिर के नीरव उर में
चरवाहे का लीन हुआ स्वर
आओ, बैठें इनपर क्षणभर

ये अब तम में एकाकी हैं
उर में हास कहाँ बाकी है ?
आओ, इनका मन बहलायें
क्षणभर दुख के साथी बनकर
आओ, बैठें इन पर क्षणभर

(२९)

आओ, इन पर चित्र बनायें

नभ में नीरव नयन घुमाकर
उर में सोई व्यथा जगा कर
विकल विकल उन्मन गुम सुम हो
फिर जैसा जो जी में आये
आओ, इनपर चित्र बनायें

ध्यान न हो अपनेपन का भी
बोझ न हो हलका मन का भी
बना बना कर, ढहा ढहा कर
फिर खींचें यों ही रेखायें
आओ, इन पर चित्र बनायें

फिर यों गुमसुम बैठे रहना
पीड़ा की धारा पर बहना
दृग घूमें, पर यों ही निष्फल
चित्रों से जब जीभर जाये
आओ, इनपर चित्र बनायें

(३०)

इनको तुम यों ही रहने दो

आतप-तापित निर्जन तरु के
ये म्लानमना पल्लव सूखे
पीड़ा की गहरी सरिता में
अविरल समगति से बहने दो
इनको तुम यों ही रहने दो

ये जीवन में कुछ खिल न सके
अलि विहगों से हिलमिल न सके
अविराम हिमानी की क्रीड़ा
चुपचाप निरंतर सहने दो
इनको तुम यों ही रहने दो

ये सूख चुके, तन सूख गया
दृग सूख चुके, मन सूख गया
अब केवल नीरवता से ही
अपने मानस की कहने दो
इनको तुम यों ही रहने दो

(३१)

मैं टीलों पर पैर पसारे

सूरज को छिपते "औ" उगते
किरणें बिखराते फिर चुगते
देखा करता हूँ एकाकी
उगते छिपते चाँद, सितारे
मैं टीलों पर पैर पसारे

नभ में परितः आते जाते
कुछ नीरव, कुछ गाते जाते
देखा करता हूँ एकाकी
विहगों को हँसते मनमारे
मैं टीलों पर पैर पसारे

क्षुब्ध सदा रहता अंतस्तल
खींचा करता नीरस निष्फल
रेखा यों ही मिटा मिटा क्रूर
एकाकी, नीरवता धारे
मैं टीलों पर पैर पसारे

(३२)

टीलों में उलझा मेरा मन

मन मंदिर की ये प्रतिमायें
कल्पना चित्र की रेखायें
मेरे पथ के ये दीप विमल
पीड़ित मानस के चिर चिंतन
टीलों में उलझा मेरा मन

जग जाता प्रातः को पाकर
निष्काम सदा इन पर जाकर
अविराम लोटने लग जाता
ये बिखराते मुझ पर रजकण
टीलों में उलझा मेरा मन

दृग से पी पी इनकी चितवन
भूखा ही रहता मेरा मन
वीणा के नीरव तार अखिल
बजते रहते झन झनन झनन
टीलों में उलझा मेरा मन

(३३)

ये भावों के गेह नहीं क्या ?

चलने का इतिहास उदय का
जिनके मानस में अंकित है
साहस, दृढ़ता इस तन मन की
जिनके रजकण से संचित है

जिनकी गोदी में सीखा है
हँसना प्रतिपल गिर पड़ कर भी
जिनकी गोदी में सीखा है
मिलना प्रतिपल लड़ भिड़ कर भी

जगती में दुख पा पाकर भी
हँस लेता हूँ आकर जिन पर
बिसरा देता हूँ दुख बाढ़ी
भावों में बह बह कर जिन पर

ऐसे इन चिर परिचित-गण से
मुझको कुछ भी स्नेह नहीं क्या ?
ये भावों के गेह नहीं क्या ?

(३४)

ये मेरे जीवन के साथी

इन पर शैशव के चरणों ने
अथक, निरंतर नृत्य किया है
खेल कूद कर, लोट लोट कर
बचपन को कृतकृत्य किया है

आधी देह, नवसृष्टि में भी
यों ही इनके साथ रहा हूँ
सुख दुख में नित साझ सबेरे
हर्षित और उदास रहा हूँ

ये जलते मेरा तन जलता
सुख होता, होती शीतलता
इन को मेरा, मुझको इनका
प्रतिपल एकाकीपन खलता

मैं इनके कण कण में खोया
इनको मेरी याद सताती
ये मेरे जीवन के साथी

(३५)

एक सा जीवन हमारा

ये जगत से दूर अपने
आप में तल्लीन, वसुध
मौन, नीरव मैं, जगत ने
कब दिया मुझको सहारा ?
एक सा जीवन हमारा

ताप से संतप्त तन में
शुष्क है लतिका सुमन की
शुष्क सरिता मम हृदयकी
शुष्क सरिता का किनारा
एक सा जीवन हमारा

रश्मिया स्वर्णिम अरुण की
खो चुकी नीरस मलिन वन
व्योम में धूमिल तिमिरमय
दूर एकाकी सितारा
एकसा जीवन हमारा

(३६)

मुझको टीले प्रिय लगते हैं

एकाकी मैं इन पर करता
रहता हूँ एकान्त-चिन्तना
दुखित, व्यथित, सोये मानस में
प्रतिपल भाव यहाँ जगते हैं
मुझको टीले प्रिय लगते हैं

कलित, ललित इनके शिखरों की
कान्त, स्निग्ध अभिराम धूल पर
बिखरे स्वर्णिम अभिनव रज कण
मेरे नयनों को ठगते हैं
मुझ को टीले प्रिय लगते हैं

मंद मंद चल मारुतप्रेरित
इधर मचलते, उधर मचलते
धूलि-कणों को सतत पकड़ने
मौन भाव मेरे भगते हैं
मुझको टीले प्रिय लगते हैं

(३७)

मैं टीलों पर सोता रहता

भेद भाव में मग्न जगत से
रिश्ता नाता तोड़ छोड़ कर
भावों के पतले तारों में
रजकण विमल पिरोता रहता
मैं टीलों पर सोता रहता

कोमल मखमल के गद्दों पर
भी मैं सोया, सुख न मिला पर
इनकी मृदुता सुघराई से
अनुपम सुख में खोता रहता
मैं टीलों पर सोता रहता

दुनियाँ कितनी दुखित, व्यथित है
मखमल के गद्दों पर सो कर !
टीलों पर ही सब सो पाते
सोच सोच कर रोता रहता
मैं टीलों पर सोता रहता

(३८)

गान छिपे हैं इन में मेरे

चल पड़ता नीरव खोया सा
अति गंभीर विमल-तोया सा
जब मिलता अवकाश कार्य से
भावों से मानस को घेरे
गान छिपे हैं इन में मेरे

मानस कुछ रहता बुनता सा
खोई सुखद वस्तु चुनता सा
देख देख इनकी सुघराई
कह उठता, तू धन्य चितेरे !
गान छिपे हैं इन में मेरे

अपनी अपनी चिन्ता में सब
बेसुध रहते हैं प्राणी जब
भूला भटका सा खग कोई
गाजाता नित साँझ सबेरे
गान छिपे हैं इन में मेरे

(३९)

मैं टीलों का, टीले मेरे

टीलों की कोई व्यथा, कथा
है मुझ से कुछ भी छिपी नहीं
टीले भी उससे परिचित हैं
जो मेरे मानस को घेरे
मैं टीलों का, टीले मेरे

जब कभी व्यथा, चिन्ता होती
मैं इन के पास चला आता
ये भी सुध बुध भूले रहते
अति मौन पास में ही मेरे
मैं टीलों का, टीले मेरे

इनको दुनियां से काम नहीं
मुझको जग का आराम नहीं
हम दोनों ही नीरव उन्मन
दुनियां से अपना मुख फेरे
मैं टीलों का, टीले मेरे

(४०)

मेरे उर में भी टीले हैं

दिग दिगन्त, जल थल पर फैला
युग युग से नीरव अम्बर है
दूर जगत से क्षितिज पार तक
उड़ती ही रहती चीले हैं
मेरे उर में भी टीले हैं

दूर कहीं से उड़ कर बिखरे
किसी विटप के पत्ते जर्जर
कंटक, शूल, सुमन कंटीले
"सत्यानाशी" के पीले हैं
मेरे उर में भी टीले हैं

मौन शिखर की तप्त धूल पर
जगती का सौन्दर्य भूल कर
कवि बैठा जो उन्मन नीरव
उस के दृग नीरव गीले हैं
मेरे उर में भी टीले हैं

(८१)

मैं नीरव टीलों का गायक

जिन को जगने शुष्क मान कर
नाता तोड़ा आँखें फेरी
उनकी ही बिखरी अभिलाषा
आशाओं का मैं नव नायक
मैं नीरव टीलों का गायक

मैंने जग का पंथ भूल कर
जग के मधु से तोड़ा नाता
जगती के विष भरे दृगों में
मैं पागल हूँ, फिर भी पायक
मैं नीरव टीलों का गायक

मेरे मधु के आगे मुझको
दुनियाँ तुच्छ दिखाई देती
लीन नित्य मैं, अब लगता है
जग का मधु नीरस, दुखदायक
मैं नीरव टीलों का गायक

(४२)

इन पर मुझको सो जाने दो

कलुषित जग की पशुता, जड़ता,
गीतों में व्यक्त हुई अब तक
नयनों में जग का भेद-भाव
बसगया, हो गया मन बंचक

मृग-तृष्णा में भूला, भटका
मैं भूल गया कर्तव्य-ज्ञान
पथ-भ्रष्ट, सत्य से दूर, एक
सौरभ-संचय का रहा ध्यान

कुछ हाथ न आया कहीं कूल
उड़ गई सुरभि जो थी छलना
टूटा सपना, खुलगई आंख
अब शेष एक बस कर मलना

अब तो अनंत जो नग्न सत्य
उस में मुझको खो जाने दो
इन पर मुझको सो जाने दो

(४३)

मैं टीलों को क्या दे पाया ?

टीलों ने सब कुछ दिया मुझे
निज सततसंग में लिया मुझे
क्या कभी जरा ही की सेवा
जब जब इन पर अंधड़ छाया
मैं टीलों को क्या दे पाया

तूफानों में वीरान हुए
जर्जरतन बन अनजान हुए
पर क्या इन ने यह बात कही
अब यहाँ कृतघ्नी क्यों आया ?
मैं टीलों को क्या दे पाया ?

गायक तो केवल देना है
बदले में कब, क्या लेता है ?
सचमुच मैंने अन्याय किया
मैंने रो कर गायन गाया
मैं टीलों को क्या दे पाया ?

(४४)

अब इनमें गायन खोज रहा

मैं मधुकर बन कर मँडराया
लतिकाओं पर, कलिकाओं पर
सब कुछ वारा अविरल अपनी
आशाओं पर इच्छाओं पर

जिस ओर, जहाँ भी मधु देखा
हो विकल, मत्त उड़ गया वहाँ
अपमान, उपेक्षा, तिरस्कार
सह लिया अखिल, घुल गया वहाँ

जीवन का निर्मल, सत्य ध्येय
प्रतिकूल सोच, मधुमस्त बना
मधुमयी, मत्त जानी दुनियाँ
मधु-संचय जीवन का सपना

अपने मधु में तल्लीन नित्य
पल प्रतिपल करता मौज रहा
अब इनमें गायन खोज रहा

(४५)

टीलों ने मुझको गीत दिये

थी जग की स्वार्थ-विषमता से
एकाकी रहने की इच्छा
इनने अभिलाषा पूरा की
नीरव मानस में प्रीत लिये
टीलों ने मुझको गीत दिये

मैं पीड़ित था, मैं चिन्तित था
मैं नीरव था, था एकाकी
इनने मेरे संगी बन कर
दुख, व्यथा, क्लेश सब क्रीत किये
टीलों ने मुझको गीत दिये

मैं इनपर इतना बेसुध हूँ
इनके दुख से पीड़ित खुद हूँ
इनके गायन गाता रहता
दुनिया से न्यारी रीत लिये
टीलों ने मुझको गीत दिये

(४६)

मैं उनको ढूँढ़ रहा प्रतिपल

जिनकी स्मृतियों की रेखायें
टीलों के उर में बनी हुई
संताप, व्यथा, आघातों से
चिन्तायें गहरी, घनी हुई

जिनकी चिन्ता ही चिन्ता में
तन, मन अपना खोते रहते
दिन रात, प्रात, संध्या, दुपहर
में मूक बने रोते रहते

छाई मानस में नीरवता
निश्वासों में पीड़ा गहरी
जिनके कण कण में व्यथा, खेद
की मचल मचल उठती लहरी

आगमन-प्रतीक्षा में जिसकी
ये मौन बने बैठे निश्चल
मैं उसको ढूँढ रहा प्रतिपल

(४७)

मुझको वैभव की चाह नहीं

मैं अपने पथ पर बढ़ता हूँ
मैं शैल-शिखर पर चढता हूँ
चट्टानें, कंटक कभी नहीं
कुछ रोक सके हैं राह नहीं
मुझको वैभव की चाह नहीं

बाधायें आयेंगी माना
उनमें भी गाऊँगा गाना
झंझाओं की, तूफानों की
मुझको किंचित परवाह नहीं
मुझको वैभव की चाह नहीं

चलते चलते जायेंगे थक
सुनसान विजन में मेरे पग
पथभ्रष्ट न होऊँगा फिर भी
निकलेगी उर से आह नहीं
मुझको वैभव की चाह नहीं

(४८)

मैं चुन न सका कटक इनके

घंटों निश्चल, सुधबुध तज सब
बैठा, लौटा मैं इन पर जब
पीड़ा की दुस्सह ज्वाला से
झुलसे अभिनव किसलय मनके
मैं चुन न सका कंटक इनके

दुख पाया जब यह अंतस्तल
इनकी नीरवता में प्रतिपल
मेरी एकाकीपन पीड़ा
फूटी सहसा गायन बन के
मैं चुन न सका कंटक इन के

उर में कंटक सा गड़ता है
कितनी मेरी यह जड़ता है ?
मकरंद-चयन में लीन रहा
अविरल लोभी मधुकर बन के
मैं चुन न सका कंटक इन के

(४९)

मैंने नीरस गीत बनाये

प्रात, साँझ, दुपहरी निशा में
नीरस मन, नीरव तन लेकर
अस्थिर, चचल रज पर मैंने
सदा व्यर्थ खींची रेखायें
मैंने नीरस गीत बनाये

मन में धूलि–कणों का नर्तन
गहरी नीरवता नयनों में
ले, स्मृतियों में कसक, वेदना
झंझा–तापतप्त उल्कायें
मैंने नीरस गीत बनाये

तंत्री के गुंजित तारों पर
खेद, व्यथा, करुणा, पीड़ा धर
ऊँचे शिखरों पर टीलों के
नीरव नभ में नयन लगाये
मैंने नीरस गीत बनाये

(५०)

मेरा गीत पड़ेगा सुनना

मैं ये टीले नीरव नीरस
लिये हृदय में व्यथा चिरंतन
लिखा भाग्य में यही हमारे
इधर उधर प्रतिपल सिर धुनना
मेरा गीत पड़ेगा सुनना

उजड़ चुकी दुनियाँ वैभव की
आश, हास का टूटा सपना
राख और मिट्टी से दुर्लभ
आशाओं का कोटर बुनना
मेरा गीत पड़ेगा सुनना

दुनियाँ अपने में मतवाली
ढूँढ़ रही सोने, चाँदी को
मैंने साँझ, सवेरे प्रतिदिन
चाहा केवल रजकण चुनना
मेरा गीत पड़ेगा सुनना